THE ECONOMIC TIMES

Date: 23-12-17

Threats of violence should not prevail

ET Editorials

What is common between the Indian Science Congress and a planned Sunny Leone New Year's Eve bash? Both have been called off on account of protests. This is a tendency that has to be countered and reversed. Protesters have the right to protest. Similarly, the organisers of legal events have the right to hold their events. The state's job is to protect both rights and prevent the one from terminating the other. The right to protest is democratic, but not the threat to unleash violence. When the state succumbs to the threat of violence and curtails the right of the event organisers under threat, it undermines democracy. This must stop.

The eleventh-hour intimation by Osmania University administration of its inability to host the annual Indian Science Congress because of protests on the campus is regrettable.This has resulted in postponing the 105th edition of the science meet. The annual Indian Science Congress is traditionally inaugurated by the prime minister, raising the security profile of the event. The administration of the Osmania University should work with the Special Protection Group and the local police agencies to ensure that protesting students have the space to express their point of view while ensuring the safety and security of other students and staff, delegates to the conference and guests. Discussion, dissent and protest are essential components of a university. Its administration should be able to ensure these take place in a manner that is both constructive and safe. Why blame just hapless university administrations? Politicians on the left and the right have been guilty of scuppering events on pain of violence. In the name of democracy, they must cease and desist. If they do not, they must face the wrath of the people, democracy's final arbiters.

Date: 23-12-17

Bringing down the cost of healthcare

ET Editorials

How to bring down healthcare costs and end price-gouging by private hospitals? This question has two assumptions that are unsound. One, the private healthcare providers' mission is to make healthcare accessible and affordable by all—it must be recognised that a private hospital provides quality care at full cost plus a premium that reflects the hospital's profits, and that it is the job of the government to make affordable care ubiquitous. Two, hospitals make exorbitant profits—in reality, their operating margins are, in general, lower than those of most industries that service the common man. This still does not mean that there is no scope to reduce hospital charges while long-term measures are pursued.

The single most significant reform would be to remove the incentive for a hospital to inflate the cost of care, via excessive use of consumables or through needless procedures and investigations. This would have two legs: move healthcare payment from out-of-pocket to pooled and pre-paid for the entire population; and, alongside, align the hospital's incentive to the goal of lowering costs. The latter calls for the hospital to charge an actuarially computed per capita fee per head for a defined patient population, for whose healthcare it assumes responsibility, and manage care costs within the payment so received. Moving to such a system would take time. In the interim, the government could work to bring down the cost of land for hospitals, the biggest element in their capital cost. Some get it free, others pay the market price. Per bed costs would vary, depending on how land was obtained but hospitals are under pressure to offer competitive rates, and end up overcharging for consumables, to cross-subsidise overheads that make them look expensive.

Some variant of the pharmacy benefit manager that negotiates discounts for bulk purchases of drugs on behalf of insurance plans in the US would be in order. Hospitals could be asked to buy drugs and consumables from utilities that negotiate low prices via bulk orders. In any case, these prices would set benchmarks that could be widely disseminated.

राष्ट्रीय सहारा

Date: 22-12-17

बालिग के दायरे में

संपादकीय

निस्संदेह , यह ऐतिहासिक निर्णय है। रेयान इंटरनेशनल स्कूल के दूसरी कक्षा के छात्र प्रद्युम्न की हत्या के मामले में आरोपित छात्र पर अब जिला और सत्र न्यायालय में बालिग की तरह मुकदमा चलेगा। किशोर न्याय बोर्ड ने सीबीआई की याचिका पर सुनवाई करते हुए जैसे ही यह फैसला दिया इसके पक्ष और विपक्ष में बहस शुरू हो गई। एक पक्ष मानता है कि यह सही फैसला है, क्योंकि जिस तरह की हैवानियत पकड़े गए 11 वीं के छात्र ने किया था, वह एक वयस्क अपराध के सदृश्य ही था। यह तर्क भी दिया जा सकता है कि अगर नाबालिगों को जघन्य अपराध में भी नाबालिग मानकर व्यवहार किया जाएगा तो इससे अपराध बढ़ेगा। अपराध करते समय उनके मन में यह भाव होगा कि उनके साथ नाबालिग समझकर व्यवहार होगा और साधारण सजा को बाल सुधार गृह में आराम से काट लिया जाएगा। निर्भया मामले में यही हुआ। एक अपराधी, जिस पर सबसे ज्यादा हैवानियत का आरोप था उसे नाबालिग मानकर मुकदमा चला और उसे कठोर सजा नहीं दी गई। इसका फायदा बड़े अपराधी गैंग भी उठाते हैं। वे नाबालिग से अपराध करवाते हैं। उनको यह समझा देते हैं कि पकड़े गए तब भी तुमको बड़ी सजा नहीं हो सकती। हालांकि इसका दूसरा पक्ष भी है। वह यह कि अगर नाबालिग ने नासमझी में कोई अपराध कर दिया तो उसके साथ एक अभ्यस्त अपराधी की तरह व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। उसे सुधरने का मौका मिलना चाहिए ताकि उसका भविष्य गैर अपराधी का हो सके। तो इस पर बहस चलती रहेगी। 11 वीं के जिस छात्र ने प्रद्युम्न की हत्या की वह जघन्य अपराध की श्रेणी में आएगा। सीबीआई की जांच में यह बात सामने आई कि आरोपित छात्र ने स्कूल में होने वाली परीक्षा और अभिभावक शिक्षक बैठक (पीटीएम) को टलवाने के लिए यह हत्या की थी। इतने के लिए एक अभ्यस्त अपराधी की तरह किसी का गला काटने वाले के अपराध को एक नाबालिग का अपराध मानकर व्यवहार नहीं होना चाहिए। इस संदर्भ में मानक यह होना चाहिए कि एक नाबालिग आरोपित को बालिग मानकर मुकदमा चलाया जाए या नहीं, यह उसके द्वारा किए गए अपराध की मंशा और गंभीरता पर निर्भर होना चाहिए। तात्पर्य यह कि इस फैसले को हर मामले के लिए नजीर की तरह इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। यानी जैसा अपराध वैसा व्यवहार। अब यह अदालत को ही तय करना है कि नाबालिग का कौन सा जुर्म बालिगों के अपराध की श्रेणी में आता है।

जनसत्ता

Date: 22-12-17

असहमति की जगह

संपादकीय

उपराष्ट्रपति वेंकैया नायडू ने बुधवार को जो कहा वह यों तो हमेशा कहे जाने लायक है, पर आज के भारत के संदर्भ में यह कहीं ज्यादा प्रासंगिक है। बुधवार को राजधानी दिल्ली में एक समारोह को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि लोकतंत्र सिर्फ संख्या नहीं, बल्कि एक दूसरे के विचारों को समझना और सराहना है। राज्यसभा के सभापति के तौर पर

अपने अनुभव बताते हुए उपराष्ट्रपति नायडू ने यह भी कहा कि चर्चा और संवाद, विचारों का आदान-प्रदान और विभिन्न मतों में असहमतियों के बीच सहमति बनाना एक स्वस्थ और जीवंत लोकतंत्र का मौलिक तत्त्व है। पर यह बेहद अफसोस की बात है कि यह तत्त्व दिनोंदिन कमजोर होता जा रहा है। यह आम धारणा बनती जा रही है कि लोकतंत्र का मतलब केवल संख्याबल है। सत्ता में बैठे लोगों के किसी कृत्य पर सवाल उठें, तो वे यह दलील देने से बाज नहीं आते कि वे चुनाव जीत कर आए हैं, उन्हें जनादेश मिला हुआ है। इस तरह की धारणा और इस तरह की दलीलों से बहुमतवाद और बहुसंख्यकवाद लोकतंत्र के पर्याय बनते गए हैं।यह सही है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था या संसदीय प्रणाली बहुमत के आधार पर चलती है और चलनी चाहिए। पर इसका यह अर्थ नहीं कि चुनाव या संख्याबल लोकतंत्र की एकमात्र कसौटी है। लोकतंत्र का मतलब यह भी होता है कि हम मानवाधिकारों, अभिव्यक्ति की आजादी या असहमति के अधिकार का कितना सम्म्मान करते हैं और संवाद व सौहार्द को अपने व्यवहार में कितनी जगह देते हैं। इन कसौटियों पर हमारा लोकतंत्र कहां खड़ा है?

लोकतंत्र सब तरह के अल्पसंख्यकों की रक्षा और असहमति के अधिकार का भरोसा दिलाता है। पर आज भारत में असहमति को सहजता से नहीं लिया जाता। असहमत व्यक्ति की नीयत पर शक किया जाता है, या उस व्यक्ति को संदेहास्पद रूप में प्रचारित किया जाता है। राष्ट्र के प्रति उसकी निष्ठा संदिग्ध बताई जाती है। इस तरह की हरकतों से उस व्यक्ति की छवि को तो नाहक ठेस पहुंचती ही है, हमारा लोकतंत्र भी कमजोर होता है। जहां संख्याबल का हवाला देकर सिर्फ हां बोलने की इजाजत हो, वह जीवंत लोकतंत्र नहीं हो सकता। सच तो यह है कि असहमति को सहजता से लेना कोई लोकतांत्रिक रियायत या मेहरबानी नहीं है, असहमति जाहिर करने का अधिकार हर व्यक्ति का नैसर्गिक व बुनियादी अधिकार है और इससे लोकतंत्र प्राणवान बनता है। रचनात्मकता और ज्ञान के विकास के लिए भी यह जरूरी है।

असहमति हमेशा रचनात्मकता का शक्ति-स्रोत रही है, और असहमति के बिना ज्ञान का विकास हो ही नहीं सकता। कई वर्तमान आम धारणाएं केवल रूढ़ियां होती हैं, उनके साथ संख्याबल भले हो, सत्य का बल नहीं होता। कोई उन धारणाओं का खंडन करने और सच बताने के लिए उठ खड़ा होता है, तो यह तत्कालीन समाज को या उस समाज के बहुत सारे लोगों को रास नहीं आता। पर सच्चाई की अपनी ताकत होती है और वह धीरे-धीरे लोगों को अपनी निराधार धारणाएं बदलने पर मजबूर कर देती है। ज्ञान का विकास इसी तरह से, आरंभिक असहमतियों के जरिए ही होता रहा है। जो असहमति को कुचलना चाहते हैं, आश्चर्य नहीं कि वे रचनात्मकता और ज्ञान के भी खिलाफ होते हैं। बहरहाल, नागरिक अधिकार ही हमारे हमारे संविधान का मूलाधार हैं, और अगर असहमति के अधिकार पर हमला होता है तो वह हमारे संविधान पर चोट है।

Date: 22-12-17

फैसले के मायने

संपादकीय

बहुचर्चित 2-जी मामले में गुरुवार को आए सीबीआइ की विशेष अदालत के फैसले ने जहां कांग्रेस को राहत दी है, वहीं भाजपा को खामोश कर दिया है। अदालत ने पूर्व दूरसंचार मंत्री ए राजा और द्रमुक की पूर्व सांसद कनिमोड़ी समेत सभी आरोपियों को निर्दोष करार दिया है। दो हजार पेज के फैसले में अदालत ने मामले के हरेक पहलू की विस्तार से विवेचना की है। सीबीआइ ने कहा है कि वह इस फैसले के खिलाफ उच्च न्यायालय में अपील दायर करेगी। पर सवाल है कि सीबीआइ अपने आरोपपत्र की पुष्टि में विश्वसनीय साक्ष्य क्यों नहीं जुटा सकी? नहीं जुटा सकी, या साक्ष्य नहीं थे? अदालत ने आरोपपत्र की त्रुटियों से लेकर दस्तावेजों की मनमानी व्याख्या तक अभियोजन पक्ष की नाकामी बताने वाली कई बातें कही हैं। इस तरह, यह मामला चाहे जितनी सियासी सरगर्मी का सबब बना हो, टांय-टांय फिस्स साबित हुआ। कांग्रेस के लिए राहत, और साथ ही नाराजगी का कारण यह है कि कैग की रिपोर्ट के हवाले से उसके राजनीतिक विरोधियों ने 2-जी स्पेक्ट्रम आबंटन को घोटाला करार दिया था। तत्कालीन नियंत्रक एवं महा लेखा परीक्षक विनोद राय ने अपनी रिपोर्ट में आबंटन में मनमानी का उल्लेख करते कहते हुए 1.76 लाख करोड़ रु. का नुकसान होने की बात कही थी। इससे यूपीए सरकार की छवि खराब हुई, और माना जाता है कि इसके फलस्वरूप 2014 के लोकसभा चुनाव में उसे जबर्दस्त नुकसान उठाना पड़ा।

भाजपा ने 2-जी मामले के जरिए कांग्रेस को घेरने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। खुद मोदी लोकसभा चुनाव के दौरान अपनी रैलियों में इस मुद्दे को जोर-शोर से उठाते थे। पर अदालत के फैसले ने भाजपा को बगलें झांकने पर मजबूर कर दिया है और कांग्रेस को यह कहने का मौका दिया है कि उसे दुष्प्रचार का शिकार बनाया गया। करुणानिधि की पुत्री कनिमोड़ी और द्रमुक का दलित चेहरा कहे जाने वाले ए राजा के निर्दोष साबित होने से कांग्रेस के साथ ही द्रमुक ने भी राहत की सांस ली है। 2-जी मामले का हवाला देकर द्रमुक के भ्रष्टाचार में लिप्त होने का आरोप अन्नाद्रमुक लगाती रही है। पर अदालत के फैसले ने अन्नाद्रमुक से 2-जी का हथियार छीन लिया है। इससे तमिलनाडु की राजनीति में द्रमुक को लाभ हो सकता है। सियासी नफा-नुकसान की बात छोड़ दें, तो एक अहम सवाल यह है कि क्या 2-जी मामले में सीबीआइ की विशेष अदालत के फैसले का कोई सबक भी है? जाहिर है एक तरफ सबक कैग के लिए है तो दूसरी तरफ सीबीआइ के लिए। पर एक सबक सरकारी कामकाज की भाषा और तौर-तरीके को लेकर भी है।

अदालत ने अपने फैसले में यह रेखांकित किया है कि नीतियों में रही अस्पष्टता और दिशा-निर्देश में रही खामियों की वजह से भी बहुत-सी भ्रांतियां पैदा हुईं। दिशा-निर्देश ऐसी तकनीकी भाषा में लिखा हुआ था कि कई शब्द दूरसंचार विभाग के वरिष्ठ अधिकारियों के लिए भी अबूझ थे। अदालत ने सवाल उठाया है कि अगर वरिष्ठ अधिकारी ही विभागीय दिशा-निर्देश और शब्दावली न समझ पाएं, तो कंपनियों के नुमाइंदों या अन्य लोगों को कैसे दोष दिया जा सकता है! पर विभाग की तकनीकी शब्दावली से ज्यादा सवाल कैग की रिपोर्ट पर उठते हैं। हो सकता है 2-जी के आबंटन के सिलसिले में औपचारिकताओं के पालन में कुछ त्रुटियां रही हों, प्रक्रिया संबंधी कुछ कसर रह गई हो, लेकिन क्या इसी से कैग को 1.76 लाख करोड़ रु. के भारी-भरकम नुकसान का निष्कर्ष जारी कर देना चाहिए था?

An artificial shortage of facts

Steeped in elitism, our educational institutions discourage case studies. Government programmes remain unrelated to ground realities.

Milind Sohoni [The writer teaches at IIT, Bombay.]

The Cambridge economist, Joan Robinson, is supposed to have said "Whatever you can rightly say of India, the opposite is also true". While we may see in it a recognition of our diversity or skills of argumentation, the paradox of two realities has an inimical side to it.For most material arguments, an important step which should precede discussions or the expression of dissent, is a systematic uncovering of the facts. Thus, before we argue about privatisation of water supply systems or better wages for anganwadi workers, we must answer more routine questions. What is the current water supply schedule? Where are the zones of low pressure? What exactly is the job description of anganwadi workers? The absence of such factual documents allows for multiple ideological "realities" or narratives to emerge, while on the other hand, a wider availability of facts will enhance the quality of discussion and lead to better development outcomes.

But who are to produce such "factual" documents? The natural answer would be the university, in the form of case studies. Encoded in their production is a methodology of sifting through data and documents, understanding the role of agents, the logistics and the scientific basis of procedures, the measurement of outcomes, the creation of social value, and finally the cultural skills of reporting. Moreover, the student may choose a problem of her liking and a situation of her interest, perhaps in her own locality. An undergraduate student of sociology, for example, may produce a report on the performance of PDS in her taluka and a BSc (Chemistry) student analyse the foods and condiments in her town. Thus, for the student it will bring scientific temper, social comprehension, agency and employability. It will also transform the university into a regional knowledge resource — and not a failed provider of employees. For our scientific funding agencies, it will be the very mechanism of connecting to the people. A suite of such case studies will create pathways for better run anganwadis and improved weighing scales, yielding both jobs and better development outcomes.

Why, then, is the case-study not popular in Indian universities? Before we blithely blame the "political economy", we should examine the academia. There, we encounter another paradox : The lived reality versus an aspirational reality presented in the textbook. This happens at all levels — right from primary schools to postgraduate education. Data tells us that rural households are spending their hard-earned money on English medium CBSE schools, that is, on a curriculum designed for a salaried urban class and its metropolitan imaginations. It is also the board of choice for preparing for national competitive examinations. For example, in the standard XI-XII curriculum 50 pages are devoted to the structure of the atom, of which 20 are on its nucleus. There are no pages on water — in which the lived reality has become increasingly difficult.

The same persists at the college level, where the curricula followed is largely what is taught in the elite IITs or IISERs in the physical sciences and engineering or Delhi University and Jawaharlal Nehru University in social sciences. This is accomplished through various national and state regulatory bodies, funding agencies, faculty selection committees and "quality improvement" programmes. The curricula reflect the same disconnection. The IITs and IISERs have firmly plugged themselves into global science,

that is, an overarching frontier and excellence model of science, where the hum-drum of case-studies is seen as a diversion and dilution of their core pursuit — the service of science.

In elite Indian social science, it is scholarship of international standing and intellectual rigour which has dominated the training, and subsequently, the areas of interest. For both, there is an uncritical acceptance of a post-vernacular metropolitan modernity wherein, for example, there is no room for chulhas or drinking water, two very material problems for women in India. Finally, there is a tendency to regard the university as a theatre for self-expression or the practice of democracy and expression of dissent. Actually, this aspirational "science" was never designed to achieve full employment or improve development outcomes. It was constructed in colonial times to establish a knowledge bureaucracy. The belief in such a system remains intact. Thus, our wise men are unlikely to support this democratisation or "provincialisation" of knowledge.

From where then is the practice of case study to emerge? A natural site would be the state university and its network of affiliated colleges. But these have been brought to their knees through decades of neglect. These now serve as gateways for the youth to procure certificates to apply for government jobs and for state and national ministries to achieve bureaucratic targets like Gross Enrollment Ratios. In fact, this is a part of a broader decline in the delivery of development services. The government job itself is now a much sought after development outcome and an object of intense discussion, rather than an analysis of the practises of the service. This has further compromised the connection between salaries, value creation, and outcomes. An easy response for any state would be to slowly retreat from delivery of services, that is, a creeping privatisation. This is exactly what is playing out in Maharashtra and many other states.

While there is a great demand for development services, there are few empirical systems to measure it at the granular level that is required. Such systems should have been the basis not only of higher education but of new and viable professions and forging an informed agreement within society. Instead, we have chosen to continue an elaborate, expensive and divisive system of two realities, of rewards and rents for a chosen few and a sullen acceptance for the others. How long can such a corrosive system last?